विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

दक्षिण के भक्ति कवि कंबन का साहित्य
रामप्रकाश शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4

नौवहन और मानव सभ्यता का विकास
रविन्द्र कुमार सारस्वत

पृष्ठ क्र. 5-6

बौद्धकला में लोकनुराग के चिरन्तन तत्व
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 7

पुराणों और महाकाव्यों की संस्कृति
भरत वर्मा

पृष्ठ क्र. 8

आचार्य वराहमिहिर का समय और उनके कार्य
मिथिलेश यादव

दक्षिण के भक्ति कवि कंबन का साहित्य

रामप्रकाश शर्मा

कंबन का समय निश्चित नहीं है। जनश्रुति के अनुसार कंबन का जन्म ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ था। किंतु कंबन चोल राजा कुलोतुंग तृतीय (1178–1202 ई.) के दरबार में थे। उन्होंने रामायण की रचना अपने संरक्षक सदयप्पा वल्लाल के प्रोत्साहन से की। उनका जन्म तिरॅवेन्नैनलुर, जिला तंजौर (मद्रास) में हुआ। उनका संरक्षण कृपालु सदयप्पा ने किया जिनका उल्लेख कंबन की रचनाओं में बहुधा मिलता है। कंबन विरुतम काव्य में दक्ष थे। उनकी समृद्धि उस काल में हुई जब भक्तिपन्थ नयनमरों तथा आलवरों द्वारा लोकप्रिय हो रहा था। उत्कृष्ट वैष्णव होते हुए भी कंबन का दृष्टिकोण यथेष्ट उदार था। उन्होंने भगवान शिव की प्रशंसा अपनी रामायण में की है। उनके युग में कई उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना हुई किन्तु उनका 'रामवतारम्' उनमें सर्वोपरि है।

कंबन के जीवनवृत्त के विषय में भी ठीक–ठीक ज्ञात नहीं है। उन्हें लेकर अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, लेकिन इन्हें प्रामाणिक नहीं माना जाता। कवि ने अपने विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा है, परंतु तिरॅवेन्नैनलुर गाँव के सदयप्पा नामक एक लोकप्रिय एवं दानी व्यक्ति का उल्लेख रामायण में एकाधिक स्थलों पर हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि कंबन इस उदार व्यक्ति के आश्रय में कुछ दिन रहे थे। इसीलिए उन्होंने अपने काव्य में सदयप्पा का आदर एवं कृतज्ञता के साथ स्मरण किया है। पता यह भी चलता है कि कंबन चोल और चेर राजाओं के दरबार में भी गए थे, पर उन्होंने उन राजाओं में से किसी को भी अपनी महान् कृति समर्पित नहीं की है।

कंबन वैष्णव थे। उनके समय तक बारहों प्रमुख आलवार हो चुके थे और भक्ति तथा प्रपति का शास्त्रीय विवेचन करनेवाले यामुन, रामानुज आदि आचार्यों की परंपरा भी चल पड़ी थी। कंबन के प्रमुख आलवार 'नम्मालवार' (पाँचवें आलवार जो शठकोप या परांकुश मुनि के नाम से भी प्रसिद्ध हैं) की प्रशस्ति की है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कंबन की रामायण रंगनाथ को तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होंने नम्मालवार की स्तुति उक्त ग्रंथ के आरंभ में की। इतना ही नहीं, कंबन रामायण में यत्र–तत्र उक्त आलवार की श्रीसूक्तियों की छाया भी दिखाई पड़ती है, तो भी कंबन ने अपने महाकाव्य को केवल सांप्रदायिक नहीं बनाया है, उन्होंने शिव, विष्णु के रूप (केवल सृष्टिकर्ता) में भी परमात्मा का स्तवन किया है और रामचंद्र को उस परमात्मा का ही अवतार माना है। ग्रंथारंभ में एवं प्रत्येक काण्ड के आदि में प्रस्तुत मंगलाचरण के पद्यों से उक्त तथ्य प्रकट होता है। कंबन रामायण को केवल वैष्णव संप्रदाय का ग्रंथ नहीं मानते। इसीलिए शैवों तथा वैष्णवों में कंबन रामायण का समान आदर हुआ और दोनों संप्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य के दूर होने में इससे पर्याप्त सहायता मिली।

कंबन रामायण का कथानक वाल्मीकि रामायण से लिया गया है, परन्तु कंबन ने मूल रामायण का अनुवाद अथवा छायानुवाद न करके, अपनी दृष्टि और मान्यता के अनुसार घटनाओं में सैकड़ों परिवर्तन किए हैं। विविध परिस्थितियों के प्रस्तुतीकरण, घटनाओं के चित्रण, पात्रों के संवाद, प्राकृतिक दृश्यों के उपस्थापन तथा पात्रों की मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति में पदे–पदे मौलिकता मिलती है। तमिल भाषा की अभिव्यक्ति और संप्रेषणीयता को सशक्त बनाने के लिए भी कवि ने अनेक नए प्रयोग किए हैं। छंदोविधान, अलंकारप्रयोग तथा शब्दनियोजन के माध्यम से कंबन ने अनुपम सौंदर्य की सृष्टि की है। सीता–राम–विवाह, शूर्पणखा प्रसंग, बालिवध, हनुमान द्वारा सीता संदर्शन, इंद्रजीतवध, राम–रावण–युद्ध आदि प्रसंग अपने–अपने काव्यात्मक सौंदर्य के कारण विशेष आकर्षक हैं। लगता है, प्रत्येक प्रसंग अपने में पूर्ण है और नाटकीयता से ओतप्रोत है। घटनाओं के विकास के सुनिश्चित क्रम हैं। प्रत्येक घटना

आरंभ, विकास और परिसमाप्ति में एक विशिष्ट शिल्पविधान लेकर सामने आती है। वाल्मीकि ने राम के रूप में 'पुरुष पुरातन' का नहीं, अपितु महामानव का चित्र उपस्थित किया था, जबकि कंबन ने अपने युगादर्श के अनुरूप राम को परमात्मा के अवतार के साथ आदर्श महामानव के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। वैष्णव भक्ति तत्कालीन मान्यताओं और जनता की भक्तिपूत भावनाओं से जुड़े रहकर इस महाकवि ने राम के चरित्र को महत्तापूरित एवं परमपूर्णत्व समन्वित ऐसे आयामों में प्रस्तुत किया जिनकी इयत्ता और ईदृक्ता सहज ग्राह्य होते हुए भी अकल्पनीय रूप से मनोहर किंवा मनोरम थी। यह निश्चित ही कंबन जैसा अनन्य सुलभ प्रतिभावान् महाकवि ही कर सकता था। रामायण के चरित्रों के चित्रण में कंबन ने तमिल संस्कृति, परंपरा तथा रीति रिवाज ग्रहण किया। एक तमिल परंपरा एवं रुचि को ग्रहण करने के कारण कंबन चरित्रचित्रण में वाल्मीकि रामायण से विलग हो गए हैं। उदाहरणार्थ वाल्मीकि के अनुसार सुग्रीव ने बालि की विधवा से विवाह किया जब कि कंबन के अनुसार रत्न तथा सौभाग्य के बिना वह माता जैसी लगती थी।

वाल्मीकि के अनुसार रावण ने सीता का हरण पंचवटी से किया लेकिन कंबन का कथन है कि रावण ने सम्पूर्ण आश्रम ही पृथ्वी से उठा लिया था। ब्रह्मा के शाप के कारण उसने सीता का स्पर्श नहीं किया। वाल्मीकि ने कहा है कि राक्षस ने सीता को लंका में कैद किया। कंबन एक बात और जोड़ के कहते हैं कि सीता लंकेश के हृदय में भी कैद थीं। कंबन अंगद के शरणस्थल के विषय में भी लिखते हैं, जबकि इसका कोई उल्लेख वाल्मीकि ने नहीं किया। वाल्मीकि मौन हैं पर कंबन ने राम तथा सीता के प्रथम प्रेम के जन्म का भी वर्णन किया है जो राम सीता के प्रथम साक्षात्कार के समय हुआ, जब राम विश्वामित्र और लक्ष्मण के साथ मिथिला जा रहे थे। कंबन के राजनीतिक विचार, जो रामावतारम् में पाए जाते हैं और भी महत्वपूर्ण हैं।

वह दो प्रकार के शासन का वर्णन करते हैं। पहला न्याययुक्त शासन जो सत्कार्यों पर आधारित होता है। दूसरा शक्ति शासन जिसका आधार साहस होता है। अयोध्या में न्याययुक्त शासन था जबकि लंका में शक्तिशासन था। न्याययुक्त शासक अपने मंत्रियों की मंत्रणा मानता है जबकि शक्तिशासक उसकी उपेक्षा करता है। कंबन अनुभव करते हैं कि एक आदर्श शासक का उद्देश्य सर्वहित होना चाहिए। मुदालियर की कंबन रामायण व्याख्या उत्कृष्ट है। कंबन का काव्य उपमा तथा अर्थ की गूढ़ता में अतुलनीय है। महान् तमिल विद्वान प्रो. सेल्वकेसवरयर ने ठीक ही कहा है कि तमिल भाषा के केवल दो लौह स्तम्भ हैं। वे है कंबन और तिरुवल्लुवर। कंबन रामायण का प्रचार–प्रसार केवल तमिलनाडु में ही नहीं, उसके बाहर भी हुआ। तंजौर जिले में स्थित तिरुप्पणांदाल मठ की एक शाखा वाराणसी में है। लगभग 350 वर्ष पूर्व कुमारगुरुपर नाम के एक संत उक्त मठ में रहते थे। संध्या वेला में वे नित्यप्रति गंगातट पर आकर कंबन रामायण की व्याख्या हिंदी में सुनाया करते थे। गोस्वामी तुलसीदास उन दिनों काशी में ही थे और संभवतः रामचरितमानस की रचना कर रहे थे। दक्षिण में जनविश्वास प्रचलित है कि तुलसीदास ने कंबन रामायण से प्रेरणा ही प्राप्त नहीं की, अपितु मानस में कई स्थलों पर अपने ढंग से, उसकी सामग्री का उपयोग भी किया। यद्यपि उक्त विश्वास की प्रामाणिकता विवादास्पद है, तो भी इतना सच है कि तुलसी और कंबन की रचनाओं में कई स्थलों पर आश्चर्यजनक समानता मिलती है।

नौवहन और मानव सभ्यता का विकास

रविंद्र कुमार सारस्वत

नदियों और समुद्रों में नावों और जहाजों से यात्रा तथा व्यापार का प्रारंभ लिखित इतिहास से पूर्व हो गया था। प्रायः साधारण जहाज ऐसे बनाए जाते थे कि आवश्यकता पड़ने पर उनसे युद्ध का काम भी लिया जा सके, क्योंकि जलदस्युओं का भय बराबर बना रहता था और इनसे जहाज की रक्षा की क्षमता आवश्यक थी। ये जहाज डाँड़ों या पालों अथवा दोनों से चलाए जाते थे और वांछित दिशा में ले जाने के लिये इनमें किसी न किसी प्रकार के पतवार की भी व्यवस्था होती थी। स्थलमार्ग से जलमार्ग सरल और सस्ता होता है, इसलिये बहुत बड़ी या भारी वस्तुओं को बहुत दूर के स्थानों में पहुँचाने के लिये आज भी नावों अथवा जहाजों का उपयोग होता है। प्राचीन काल में सभ्यता का उद्‌भव नौगम्य नदियों या समुद्रतटों पर ही विशेष रूप से हुआ और ये ही वे स्थान थे जहाँ विविध संस्कृतियों की, जातियों के सम्मिलन से, परवर्ती प्रगति का बीजारोपण हुआ। युक्ति कल्पतरु और समरांगना सूत्रधारा धार के परमार राजा भोज (11वीं शताब्दी ईस्वी की शुरुआत) द्वारा लिखी गई दो पुस्तकें हैं, जिनमें बड़े जहाजों के निर्माण के बारे में बताया गया है जो महासागरों या बड़ी नदियों में यात्रा कर सकते हैं।

तेल के बर्तन में तैरती और उत्तर की ओर इशारा करने वाली लोहे की मछली द्वारा बनाए गए दिशा सूचक यंत्र का साक्ष्य मिला है, जिसका उपयोग सिंधु घाटी सभ्यता के नाविकों द्वारा किया जाता था। युक्ति कल्पतरु चार अलग–अलग प्रकार की लकड़ी का विवरण देता है। पहले वर्ग में लकड़ी शामिल है, जो हल्की और मुलायम होती है और किसी भी अन्य लकड़ी से जोड़ी जा सकती है। दूसरा वर्ग हल्का और कठोर है, लेकिन इसे लकड़ी के किसी अन्य वर्ग से नहीं जोड़ा जा सकता। लकड़ी का तीसरा वर्ग नरम और भारी होता है। अंततः चौथा प्रकार कठोर एवं भारी होता है। भोज के अनुसार द्वितीय श्रेणी की लकड़ी से बना जहाज धन और सुख लाता है। इस प्रकार के जहाजों का उपयोग महासागरों को पार करने के लिए सुरक्षित रूप से किया जा सकता है। विभिन्न गुणों वाली लकड़ी से बने जहाज अच्छे नहीं होते, क्योंकि वे पानी में सड़ जाते हैं, और जरा–सा झटका लगते ही टूटकर डूब जाते हैं। भोज का कहना है कि तख्तों को जोड़ने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि लोहे का उपयोग न किया जाए, बल्कि उन्हें चुंबकत्व के प्रभाव में रखा जाए, लेकिन उन्हें लोहे के अलावा अन्य पदार्थों के साथ जोड़ा जाना चाहिए। भोज जहाजों के विभिन्न वर्गों के नाम भी बताते हैं। नदी पर चलने वाले जहाज– समान्य समुद्र में जाने वाले जहाज– विशेष। पंद्रहवीं सदी के इतालवी यात्री निकोलो कोंटी ने वर्णन किया हैः " भारत के मूल निवासी हमारे जहाजों से बड़े कुछ जहाज बनाते हैं, जो दो हजार बट रखने में सक्षम होते हैं, और पाँच पाल और इतने ही मस्तूल वाले होते हैं। निचले हिस्से का निर्माण तिहरे तख्तों से किया गया है, ताकि तूफानों की ताकत का सामना किया जा सके, जिससे वे ज्यादा प्रभावित होते हैं। लेकिन कुछ जहाज इस तरह से डिब्बों में बने होते हैं कि यदि एक हिस्सा टूट जाए तो दूसरा हिस्सा बरकरार रहकर भी यात्रा पूरी की जा सकती है।"

पुरी के जगन्नाथ मंदिर की एक मूर्ति में मल्लाहों को अपनी पूरी ताकत से नाव चलाते हुए और पानी को लहरों में फेंकते हुए दिखाया गया है। नाव मध्यमंदिर प्रकार की है, जैसा कि राजा भोज ने 'युक्ति कल्पतरु' में परिभाषित किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत और शत्तेल अरब की खाड़ी तथा फरात नदी पर बसे प्राचीन खल्द देश के बीच ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व जहाजों से आवागमन होता था। भारत के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में जहाज और समुद्र यात्रा के अनेक उल्लेख है। प्रथम मंडल की एक कथा में सौ डाँड़ों वाले जहाज द्वारा समुद्र में गिरे कुछ लोगों की प्राणरक्षा का वर्णन है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में यथेष्ट बड़े जहाज बनते थे और भारतवासी समुद्र द्वारा दूर देशों की यात्रा करते थे। वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकांड में जहाजों पर चढ़कर जलयुद्ध करने का उल्लेख मिलता है तथा महाभारत के द्रोण पर्व में ऐसे वणिकों का उल्लेख है, जिनका जहाज टूट गया था और जिन्होंने एक द्वीप में पहुँचकर रक्षा पाई थी। मनुसंहिता में जहाज के यात्रियों से संबंधित नियमों का वर्णन है। याज्ञवल्क्य सहिता, मार्कंडेय तथा अन्य पुराणों में भी अनेक स्थलों पर जहाजों तथा समुद्रयात्रा संबंधित कथाएँ और वार्ताएँ हैं। धर्मग्रंथों

के अतिरिक्त अनेक संस्कृत काव्य, नाटक आदि भी प्राचीन भारत के अर्णवपोतों की गौरवगाथाओं से भरे पड़े हैं। भारतवासी जहाजों पर चढ़कर जलयुद्ध करते थे, यह ज्ञात वैदिक साहित्य में तुग्र ऋषि के उपाख्यान से, रामायण में कैवर्तों की कथा से तथा लोकसाहित्य में रघु की दिग्विजय से स्पष्ट हो जाती है। पालि साहित्य के जातकों एवं प्राकृत में लिखित जैन पुराणों में भी जहाजों और समुद्रयात्रा के विवरण पाए जाते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् टामस विलियम रीस डेविड्स के मतानुसार 'प्राचीन काल में भारत का बाबुल और संभवतः मिस्र, फिनिशिया और अरब देशों के साथ समुद्र द्वारा वाणिज्य संबंध था। इन देशों के व्यापारी प्रायः वाराणसी या चंपा से जहाज पर सवार होते थे। इसका उल्लेख प्रायः मिलता है।' यह निःसंदेह है कि प्राचीन काल में फिनिशिया निवासी बड़े साहसी समुद्रगामी थे। इन्होंने भूमध्यसागर के तटवर्ती अनेक स्थानों पर पत्तन और उपनिवेश स्थापित कर रखे थे और एशिया के विभिन्न देशों से माल इकट्ठा कर वे समस्त यूरोपीय देशों में पहुँचाते थे। यह व्यापार ही इस जाति की समृद्धि का मुख्य कारण था।

ईसा पूर्व सातवीं या छठी शताब्दी तक भारत से मिस्र, खल्द तथा दजला नदी से होते हुए बाबुल तक समुद्रतटीय भागों द्वारा व्यापार का नियमित क्रम बँध गया था। पिछले काल में ग्रीस निवासियों का भी भूमध्यसागरीय व्यापार में हाथ हो गया था, किंतु रोम साम्राज्य के स्थापित होने पर जब निरंतर युद्ध तथा जलदस्युओं के अत्याचारों से शांति मिली तभी यूरोपीय समुद्रीय व्यापार पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच सका। ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत अभियान से लौटते समय सिंकदर महान् के सेनापति निआर्कस ने अपनी सेना को समुद्रमार्ग से स्वदेश भेजने के लिये भारतीय जहाजों का बेड़ा एकत्रित किया था। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में निर्मित साँची स्तूप के पूर्व तथा पश्चिमी द्वारों पर अन्य मूर्तियों के मध्य जहाजों की प्रतिकृतियाँ भी हैं। ईसा की द्वितीय शताब्दी के इतिहासकार ऐरिऐन का कहना है कि पंजाब देश की एक जाति तीस डाँड़वाले जहाज बनाकर उन्हें किराए पर चलाया करती थी। इन्होंने पत्तनों का भी उल्लेख किया है। ग्रीक दूत मेगास्थिनीज के अनुसार मौर्ययुग में एक विशेष जाति के लोग राज्य की देखरेख में जहाज बनाने का कार्य करते थे। स्ट्रैबो का कहना है कि ये जहाज व्यापारियों को किराए पर दिए जाते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में (काल 321–296 ई. पू.) राज्य के एक स्वतंत्र विभाग की चर्चा की है, जिसके ऊपर नदी और समुद्रयात्रा विषयक सब प्रबंधों का भार रहता था। पत्तनों की व्यवस्था, कर की तथा वणिकों और यात्रियों से भाड़े की वसूली, नियमों का पालन कराना इत्यादि इस विभाग के कर्तव्य थे। भारत के समुद्रतटीय प्रदेशों में स्थित अनेक पत्तनों से समुद्र द्वारा आवागमन तथा व्यापार होता था। बंबई से 25 मील दूर सालसेट द्वीप पर अवस्थित तथा ईसा की द्वितीय शताब्दी में निर्मित, कन्हेरी के गिरिमंदिर में उत्कीर्ण एक चित्र में भग्न जहाज और व्याकुल यात्रीगण प्रार्थना करते दिखाए गए हैं। अजंता की द्वितीय गुहा में जहाज संबंधी चित्र अंकित हैं। इनमें से एक में विजय की सिंहलयात्रा दिखाई है। चित्रों के अधिकांश जहाजों में लंबे–लंबे मस्तूल और अनेक पाल हैं। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ का मत है कि द्वितीय और तृतीय शताब्दी क आंध्र राजाओं की मुद्राओं में जहाजों की प्रतिलिपियों से अनुमान होता है कि इनका साम्राज्य समुद्र पार के देशों में भी था। पल्लव राजाओं के सिक्कों में भी जहाज के चित्र मिलते हैं।

ईसा के चार सौ वर्ष पश्चात् चीनी यात्री फाहियान ने ताम्रलिप्ति से एक जहाज पर चढ़कर स्वदेश की यात्रा की थी। ताम्रलिप्ति, पूर्व बंग के चटगाँव तथा भारत के अन्य पत्तनों से वणिकों और यात्रियों की समुद्रयात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन भारत में जहाजों की निर्माण प्रणाली के सिद्धांतों और नियमों का ज्ञान भोज के 'युक्तिकल्पतरु' नामक ग्रंथ से मिल सकता है। प्राचीन काल में नौवहन सुव्यवस्थित व्यापार था। जहाज के स्वामी, माल भेजनेवाले वणिक् और यात्रियों के संबंध में स्पष्ट नियम निर्धारित थे। प्रायः वणिकों के अपने जहाज होते थे, किंतु वणिक् पूरा जहाज या उसपर माल लादने योग्य स्थान, किराए पर भी लेते थे। कुछ यात्राओं के लिये कई वणिक् एकत्रित हो संघ भी स्थापित कर लेते थे। वणिक् प्रसिद्ध पत्तनों में अपने गुमाश्ते भी रखते थे। इन पत्तनों के विकास के लिये आवश्यक उपाय किए जाते थे। जहाज हजारों मील लंबी यात्राएँ करते थे। ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व भी फिनीशियन नाविक मिस्र के पत्तनों से चलकर अफ्रीका के पश्चिम समुद्रतट तक जाते थे। रोमन काल में रोम और भारत के बीच मिस्र होते बहुत बड़ा व्यापार होता था। इसका प्रमाण ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखित ग्रंथ 'पेरिप्लस ऑव दि एरिथ्रीयन सी' में मिलता है। जब युद्धोपयोगी जहाज बनने लगे तो लंबे, सँकरे, डाँड़ों से चलने और सरलता से इधर–उधर घूमनेवाले जहाज बनाए गए। माल ढोनेवाले या व्यापारी जहाज चौड़े, गहरे और पाल से यात्रा करनेवाले होते थे। इनकी चाल मंद होती थी और इनको घुमाने में देर लगती थी। इन जहाजों में डाँड़ों का उपयोग सहायताकारी होता था। साधारणतः जहाज भूमि से अधिक दूर नहीं जाते थे और मौसम खराब होने पर पास के किसी पत्तन की शरण लेते थे। सुरक्षा के लिये जहाजों को पत्तनों और अन्य रक्षित स्थानों में महीनों रुक जाना पड़ता था। भारत की यात्रा में मानसून से बड़ी सहायता मिलती थी और यह प्रायः बिना बीच में रुके संपन्न हो जाती थी। नौ चालन विज्ञान प्रारंभिक अवस्था में था। आधुनिक सहायता यंत्र तो दूर, दिशाओं को बतानेवाले साधारण चुंबकीय दिक्सूचक तक नहीं थे। इसलिये भूमि से बहुशरू संपर्क बनाए रखना आवश्यक होता था और लंबी महासागरीय यात्राएँ अव्यावहारिक थीं। फिर भी, साहसी मनुष्यों ने अज्ञात सागरों में हजारों मीलों की यात्राएँ कीं। भारतवासियों ने अपने देश से अति दूर, कितने ही समुद्रों को लाँघकर स्वर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), हिंद चीन इत्यादि में उपनिवेश तथा राज्य स्थापित किए और भारतीय संस्कृति फैलाई।

बौद्धकला में लोकनुराग के चिरन्तन तत्व

मनीष रत्नपारखी

तिब्बत का भारत के साथ अतीत के सैकड़ों वर्षों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अनेक बातों में तिब्बत और भारत की मौलिक एकता रही है। धर्म, कला, साहित्य और संस्कृति आदि के आदान–प्रदान की दृष्टि से दोनों देशों के सम्बन्ध अटूट रूप से बने हुए हैं। तिब्बतीय कला और संस्कृति के अभ्युतथान तथा नव–निर्माण में भारतीय कला तथा संस्कृति के अभ्युतथान में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। तिब्बत की चित्रकला के अध्येता विद्वानों ने उसे तीनों में विभाजित किया है। पहले वर्ग में वे चित्र आते हैं, जिनकी मुख्य भूमिका तो भारतीय बृद्ध मूर्तियों से प्रभावित है और जिनकी सहायक रेखाओं के लिए चीनी कला का अनुकरण किया गया है। दूसरे वर्ग के चित्र वे हैं, जिनकी मुख्य भूमिका तो चीन के ढंग की है किन्तु रेखाओं का आलेखन भारतीय पद्धति पर है अर्थात् पहले वर्ग के सर्वथा विपरीत।

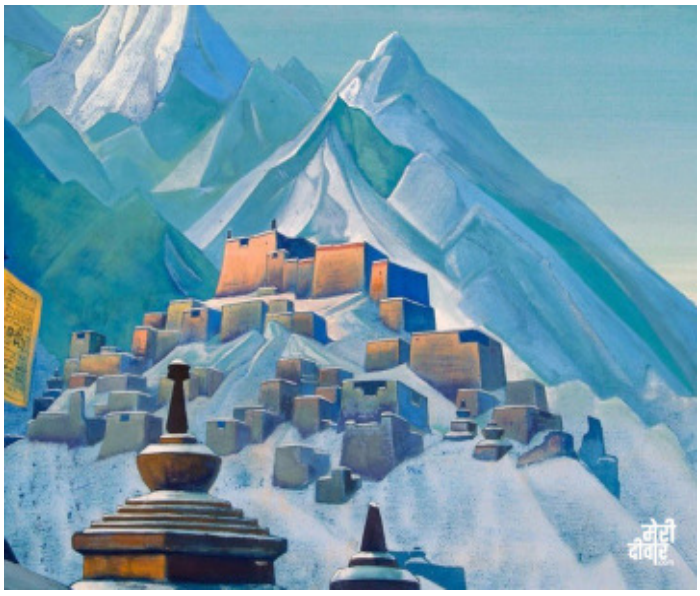

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत उन चित्रों को रखा गया है, जो या तो प्रथम दोनों वर्गों के सम्मिश्रण से बनाये गये हैं, अथवा जिनका उन दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तीसरे वर्ग के चित्र ही वस्तुतः शुद्ध तिब्बतीय चित्र कहे जा सकते हैं। तिब्बतीय चित्रकला ने कुछ चित्र ऐसे भी बने हैं, जिन पर नौपाली चित्र शैली का प्रभाव है। इस प्रकार के चित्र भी बड़े मूल्यवान हैं। तिब्बत में प्रायः 15वीं शती ई. से पहले है। तिब्बतीय चित्रों में हरे रंग का बहुत उपयोग किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से भारत और तिब्बत की चित्र–शैलियों में कई दिशाओं में साम्य है। तिब्बतीय चित्रों और वहाँ के गुफाचित्रों में अंकित लम्बी दाढ़ी वाली कलम सर्वथा भारतीय है। तिब्बत में धार्मिक चित्रों की दृष्टि से सर्वोच्च कला–कृतियाँ ताँक–का के मन्दिरों के पटचित्र हैं। ये चित्र सूती तथा रेशनी दोनों प्रकार के वस्त्रों पर अंकित हैं। तिब्बत की चित्रकला में लौकिक तथा पारलौकिक विश्वास एवं भावनाओं का समन्वय देखने को मिलता है। पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प और ऋतु आदि विषयों के चित्रों से लेकर तथागत से सम्बन्धित धार्मिक चित्रों तक एक सम्मोहन व्याप्त है। उनकी रेखाएँ दर्शक को मन्त्रमुग्ध कर देती है। तिब्बत में नालन्दा के एक स्नातक ने चित्रकला के क्षेत्र में ऐसे नये प्रयोग किये जिनमें तान्त्रिकता के साथ–साथ मानवीय प्रतिभानों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इस प्रकार के प्रत्येक चित्र की आधार भूमि मानवीय होती हुई भी उसको इस रूप में दर्शित किया गया है कि वह चायवी होकर किसी अज्ञात लोक का रहस्य प्रकट करती है। इन आकृतियों का मानव जीवन से अपरिहार्य सम्बन्ध होते हुए भी वे किसी देवदूत की जैसी लगती है। तिब्बती अनुवाद के रूप में 'चित्रलक्षण' नामक एक शास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ का निर्माण गान्धारराज नग्नजित ने किया था। इस राजा का नाम संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों में आदि चित्राचार्य के रूप में उल्लिखित है। तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर इस ग्रन्थ के प्रविधानों का प्रभाव है। तिब्बत से भारतीय चित्रकला के प्रभाव का प्रवेश नेपाल में हुआ क्योंकि तिब्बत का चीन के साथ भी सांस्कृतिक एवं धार्मिक सम्बन्ध था, इसलिए तिब्बत के माध्यम से कला की जो विरासत नेपाल को गयी उसमें चीनी प्रभाव भी है। नेपाल ने स्वयं अपने चित्रकारों को तिब्बत और चीन भेजा। उन्होंने भारतीय–चीनी–तिब्बती शैलियों के मिश्रण से अपूर्व कृतियों का निर्माण किया। यह आदान–प्रदान लगभग 14वीं शती ई. तक बना रहा। एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा चीन में बौद्ध ज्ञान के साथ–साथ बौद्धकला का प्रभाव अधिक कारगर सिद्ध हुआ। चीन में कला का अभ्युदय सुदूर अतीत में हो चुका था।

लगभग छठी शती ई. में, खूँची के अभाव में भी चीनी चित्रकला में रंगों का सौष्ठव, वृक्षों की कमनीयता अभिव्यक्त होने लगी थी। कूँची के प्रयोग के बाद तो वहाँ ऐसे चित्र बने, जिन्होंने चीनी चित्रकला को विश्व की कला में उच्चतर स्थान पर पहुँचा दिया। ताँग युग (618–907 ई.) में निर्मित तुषित (पेकिंग स्थित) नामक विहार में पाँच सौ अर्हतों की मूर्तियों में समन्तभद्र, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और क्षितिगर्भ आदि की मूर्तियों विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन मूर्तियों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनका निर्माण कुबलेखान के समय नेपाल से आये तत्कालीन प्रसिद्ध कलाकार अरकिनो ने किया था। उससे पूर्व चीन सम्राट् याँगती (605–617 ई.) के दरबार में खुत्तन का एक चित्रकार रहता था, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है। कि वह और उसका

पुत्र, दोनों भारतीय शैली के बौद्धचित्र बनाने में निपुण थे। यह ताँग–युग चीनी बौद्धकला का स्वर्णयुग रहा है। उसके निर्माण में भारतीय कलाकारों, स्थपतियों एवं शिल्पियों का भी समान रूप से योगदान रहा।

इस युग में गन्धार की यूनानी बौद्धकला ने चीनी–मूर्तिकला को प्रभावित किया और उनके आधार पर तुङ्–हुआँग, बुन–काङ् तथा लुन–मेन की गुफाओं का निर्माण हुआ। ये पर्वत गुफाएँ अजन्ता तथा बाघ की गुफाओं के आदर्शों पर निर्मित हुई थीं और उनके निर्माण में चीनी शिल्पियों तथा कलाकारों ने निष्ठा और निपुणता का परिचय दिया। चीनी इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि बुन–काङ् की प्रसिद्ध पर्वत गुफाओं के निर्माण में किसी भारतीय बौद्ध भिक्षु की प्रेरणा निहित थी। बुन–काङ् की गुफाओं की मूर्तियाँ साठ से सत्तर फुट तक ऊँची थीं, जिन्हें कि बमियान के बाद विश्व की सबसे बड़ी बुद्ध मूर्तियाँ माना जाता है।

तुङ्–हुआँग की सहस्र बुद्ध गुफाओं में बुद्ध की विशालतम 90 फुट ऊँची मूर्ति को विश्व की सर्वश्रेष्ठ मूर्ति होने का श्रेय है। ऐसी ही मूर्ति अफगानिस्तान के बमियान नामक स्थान पर भी बनी थी। चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश के बाद कला के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय मूर्तिकारों, चित्रकारों, एवं वास्तुकारों ने चीन में अनेक मठों, मन्दिरों, चित्रों तथा मूर्तियों के निर्माण में सहायता देकर अपने सम्बन्धों को दृढ़ किया। इस योगदान में भारतीय चित्रकार शाक्यबुद्धि, बुद्धकीर्ति और कुमारबोधि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चीनी चित्रकला में आलेखन, सुघड़ता, सुरुचि, सूक्ष्मता और रंगों की संजीदगी में भारतीय प्रभाव है। अपने इस नये रूप में चीनी चित्रकला प्रशान्त महासागर से कास्पियन सागर तक प्रचारित–प्रसारित हुई। भारतीय कला की कड़ियाँ बनियान, खुत्तन, तुर्किस्तान और तुर्फान तक जुड़ी हुई थीं। इन स्थानों पर प्राप्त बहुत–सी सामग्री पर अजन्ता शैली का प्रभाव है। चीनी काफिले रेशम तथा अन्य सामग्री पश्चिमी देशों की मंडियों में ले जाते थे। इस आवागमन में उनका परिचय अजन्ता शैली के चित्रों से हुआ और लौटते समय वे कई चित्रों को भी चीन लेते गये।

चीन के उत्तर–पश्चिम के कान्सू प्रान्त में पहाड़ को काटकर गुफाएँ निर्मित की गयीं। इन गुफाओं की दीवारों तथा छतों पर अजन्ता, बाघ तथा एलोरा शैली के आधार पर अनेक चित्र बने। इस प्रकार चीन में व्यापक रूप से उत्तरोत्तर बौद्धकला का एकाधिकार होता गया और चीनी चित्रकला की लोकप्रियता बढ़ती गयी। चीनी चित्रकला पर बौद्धकला के सुप्रभावों का उल्लेख करते हुए डॉक्टर चाउ सिऑग कुऑग ने चीनी बौद्धधर्म का इतिहास में लिखा है, बौद्धधर्म के चीन में आने के बाद हमारी चित्रकला को नूतन प्रोत्साहन मिला। चित्रकारों को बौद्धधर्म ने नये भाव दिये। हमारे मन्दिरों के भित्तिचित्रों तथा बौद्धचित्रों पर अजन्ता के भित्तिचित्रों का प्रभाव हो सकता है। हमारे इतिहास के आरम्भिक युग के सबसे प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम कुओ–तान–वाई और कुओ–हा–तो है। वे बुद्धचित्रों के निर्माण की दिशा में प्रख्यात थे। चीन में बहुत–से चित्रकार मठों के शान्त और एकान्त वातावरण में रहते थे और वहाँ के मन्दिरों की भित्तियों को बुद्ध अथवा अन्य सन्तों के जीवन की घटनाओं तथा पश्चिमी स्वर्ग के चित्रों से अलंकृत किया करते थे बौद्ध चित्रकारों में सबसे अधिक प्रसिद्ध वताओ–तूजे हैं, जो ईसा की छठीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए। वह बौद्ध था और उसने मठों में बहुत कार्य किया। चीन के ओर–छोर तक बिखरे हुए वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला के इन भव्य एवं अमर संगमों में भारतीय–चीनी कला–समन्वय का प्रेरणादायी इतिहास सुरक्षित है, और वे उन पवित्र एवं महान् धार्मिक अभियानों के भी स्मारक हैं, जिनके मधुर सम्बन्धों के कारण निरन्तर पन्द्रह सौ वर्षों तक दोनों देशों का जन–जीवन एक सूत्र में आबद्ध होकर अपनी आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की ओर अग्रसर होता रहा। दनदन और अहिलिक आदि स्थानों से जो चित्र प्राप्त उनमें भारतीय चित्रकला के और भी अधिक प्राचीन प्रभाव का पता लगा। इस प्रकार के चित्र बमियान की गुफाओं से प्राप्त किये गये, जिनका समय चौथी से छठी श. ई. है। इन भित्तिचित्रों में भारतीय, ईरानी और चीनी प्रभावों का अद्‌भूत सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

बमियान के उत्तर में स्थित फॉरिदुस्तान में जिन बौद्ध मठों का पता स्टीन ने लगाया उनमें उपलब्ध अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उनका निर्माण गुप्त सम्राटों तथा पाल राजाओं के आदेशों पर हुआ। आरियल स्टीन ने इन स्थानों की खोज में जो प्रयत्न किये थे वे चिरस्मरणीय हैं। उन्होंने बड़े श्रम, लगन और कौशल से मध्य एशिया में प्राप्त सचित्र भित्तियों को दो इंच दीवाल के पलस्तरों सहित उतरवाकर उन्हें दिल्ली के सेन्ट्रल एशिया ऐंटीक्विटीज म्यूजियम के तीन कक्षों में स्थापित किया। इतना बड़ा भित्तिचित्र संग्रह विश्व के अन्य किसी संग्रहालय में नहीं है। ये भित्तिचित्र चौथी से दसवीं श. ई. के बीच के हैं और उन पर अजन्ता का प्रभाव है। उक्त प्रमाण सामग्री से स्पष्ट है कि बौद्धकला ने एशिया के विस्तृत भू–भाग को विगत की अनेक शतियों तक व्यापक रूप से प्रभावित किया। उससे न केवल कला के पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ, अपितु विस्तृत एशिया भू–खण्ड के साथ भारत में धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की भी स्थायी परम्परा स्थापित हुई। उसने व्यापक मानव समाज में शान्ति, सद्‌भाव तथा लोक–मंगल की भी चिर स्थापना की।

भारत तथा अन्य द्वीपान्तरों में विद्यमान बौद्धकला के मठ, मन्दिर, संघाराम, बिहार, उपाश्रय और कन्दराएँ भारत की चिरन्तन एवं गम्भीर कलानुराग के साक्षी तथा अपने निर्माता कलाकारों, शिल्पियों एवं स्थपतियों के अमर स्मारक हैं। उन्होंने विगत के सैकड़ों वर्षों तक विभिन्न मतानुयायी समाज को एकता के सूत्र में बाँधे रखा और उनके विश्वासों को बल एवं शक्ति प्रदान करते हुए समान रूप से जन–मंगल तथा शान्ति और सद्‌भाव का मार्ग प्रशस्त किया।

पुराणों और महाकाव्यों की संस्कृति

भरत वर्मा

पुराणों द्वारा वैदिक संस्कृति का सामाजीकरण पुराण भारतीय संस्कृति के आगार हैं। वे ग्रन्थ रूप में निबद्ध भले ही बहुत बाद में हुए हों, किन्तु, जहाँ तक उनकी विषय–सामग्री एवं विचारधारा का सम्बन्ध है, इस दृष्टि से वे वेदों के समवर्ती हैं। उनके आख्यान–उपाख्यानों में वेद–पूर्व आर्यों तथा आर्यभिन्न जातियों की समन्वित संस्कृति के दर्शन होते हैं। वेदों में भी अवैदिक संस्कृति के तत्व निहित हैं, किन्तु पुराणों में वे व्यापक रूप से प्रकाश में आये। ब्राह्मण–ग्रन्थों में द्वादशवर्षीय सत्रों और अश्वमेध यज्ञों के अवसर पर सभी वर्णों तथा सभी क्षेत्रों के आमन्त्रित कथावाचकों तथा उद्‌गाताओं में अवैदिक याज्ञिकों की उपस्थिति भी समान रूप से हुआ करती थी। वैदिकों की ही भाँति अवैदिक भी अपने देवताओं, राजाओं और प्रजाओं के इतिवृत्तों एवं गाथाओं का उद्‌गायन किया करते थे। इस प्रकार की अवैदिक परम्पराओं का बहुत कुछ समावेश वेदों में ही हो चुका था। किन्तु उन सम्पूर्ण अवैदिक परम्पराओं को वैदिक परम्पराओं के साथ बिना किसी संघर्ष तथा प्रतिरोध के समन्वित एवं प्रस्तुत किया पुराणों के मुनि–महात्माओं एवं सूतों ने। उन्होंने युग–युगों की परम्परागत सांस्कृतिक थाती को सर्वांगीण सार्वदैशिक और सर्वजनोपयोगी स्थिरता एवं सुदृढ़ता प्रदान की। संक्षेप एवं सार रूप में कहीं गयी वेदों ब्राह्मणों तथा आरण्यकों की कथाओं, गाथाओं तथा उपाख्यानों को कलात्मक सज्जा देकर अधिक विस्तार एवं जनसुलभ रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का कार्य किया पुराणों के सूतों, मागधों और चारणों ने। उसमें जितना योगदान ब्राह्मण पुरोहितों तथा त्रैवर्णिकों का रहा, उतना ही योगदान सूतों, मागधों तथा चारणों (वन्दियों) जैसी शूद्र जातियों का भी रहा।

पुराण तत्कालीन समाज के लोक तथा शास्त्र परम्पराओं के संवाहक, सभी क्षेत्रों के लोगों की सामूहिक देन हैं। पुराणों का इसलिए विशेष महत्व है कि उन्हें जन–सामान्य के लिए लिखा गया था। वेदों के गम्भीर मर्म को, ब्राह्मण–ग्रन्थों की जटिल यज्ञ–विधियों को और उपनिषदों के तत्व–चिन्तन को आख्यान–उपाख्यानों द्वारा सर्वसामान्य के लिए सरल भाषा में सुगम या बोधगम्य करना ही पुराणकारों का विशेष लक्ष्य था। जैसे मध्ययुगीन रचनाकारों द्वारा पंचतंत्र तथा हितोपदेश की कथाओं द्वारा राजनीति, अर्थशास्त्र और लोक व्यवहार के प्रौढ़ ज्ञान को विमल भति बालकों के लिए प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार वेद–वेदान्त में सार एवं संक्षेप रूप में कही गयी बातों को पुराणों की कथाओं में सरलतापूर्वक विस्तार से कहा गया है। जो अल्पश्रुत है, अर्थात् जिसका अध्ययन व्यापक नहीं है, या जिसने वेदों का सम्यक् अनुशीलन नहीं किया है उससे वेद डरता है कि कहीं वह हम पर प्रहार न कर दे. अर्थात अर्थ का अनर्थ न कर दे। इसलिए ऐसे अल्पश्रुत के लिए इतिहास–पुराणों द्वारा वेदार्थ समझने की व्यवस्था की गयी है। भागवत के अनुसार वे अल्पश्रुत थे स्त्रियाँ, सूद्र और आवारव्युत द्विजातियों, जिन्हें वेद–श्रवण का अधिकार नहीं था। उनके श्रेय तथा हित के लिए वेदों का ज्ञान पुराणों के रूप में कहा गया है। भारत की धर्मप्राण जनता की आस्थाओं एवं निष्ठाओं के अनुरूप पुराणों में मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विशद वर्णन हुआ है। मूर्तिपूजा और अवतारवाद की परम्परा अति प्राचीन है। वैदिक जन–जीवन और सैन्धव सभ्यता में उनके विभिन्न सन्दर्भ बिखरे हुए हैं। वेदों का हिरण्मय पुरुष ही वस्तुतः पुराणों का विष्णु है। वही वेदों का पुरुष या पुरुषोत्तम है, जो कि पुराणों के अवतारी श्रीकृष्ण का प्रतिरूप है। इस दृष्टि से वैदिक संस्कृति ही पौराणिक नारायणीय भागवतधर्म की भी जननी है।

मत्स्य द्वारा मनु की नौका को उत्तरी हिमालय तक ले जाने का शतपथ ब्राह्मण का कथन वस्तुतः पुराणों के मत्स्यावतार की ही कल्पना है। अन्य ब्राह्मण–ग्रन्थों में भी वराहावतार, नृसिंहावतार वामनावतार और कूर्मावतार की विभिन्न चर्चाएँ हुई हैं। वेदों के सृष्टि–प्रलय के सन्दर्भ में नयी जीवन पद्धति की प्रतीकात्मक रचना पुराणों के अवतारवाद का मूल हैं। अवतारवाद की भाँति पुराणों के देवतावाद का आधार भी वैदिक संस्कृति ही रही है। वेदों के तैंतीस प्रमुख देवताओं के आधार पर पुराणों में तैतीस कोटि देवताओं की कल्पना की गयी है। पुराणों का यह बहुदेवतावाद वस्तुतः परम्परागत वैदिकों तथा अवैदिकों की बहुविध आस्थाओं का परिणाम है। वैदिक देवताओं के माता–पिता, पत्नी और पुत्र के सम्बन्धों को लेकर पुराणों के देव–परिवारों का विकास हुआ। इसी प्रकार वेदों की सकाम आराधना ने ही पुराणों की भक्ति–भावना को जन्म दिया। पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं। परम्परा द्वारा सृष्ट एवं संचित इतिहास, भूगोल, समस्त विद्याओं, शास्त्रों और कला–शिल्पों की विरासत को पुराणों में उपदेश–कथन की रोचक शैली में कहा गया है। इस राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युदय में समाज के सामान्य तथा विशेष वर्गों का जो सामूहिक योगदान रहा है उनके इतिवृत्तों को पुराणकारों ने अत्यन्त सजीव एवं सरस रूप में प्रस्तुत किया है। वेदों से पूर्व और वैदिक युग में, विशेष रूप से ऋग्वैदिक काल में आय तथा अवेतरों के पारस्परिक मेल–जोल से जिस समन्धित संस्कृति का उदय हुआ उसे वैदिक संस्कृति के नाम से कहा जाता है। उसके बाद जैसे–जैसे परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रही और नयी सामाजिक चेतना का स्फुरण हुआ, वैसे–वैसे परम्परागत संस्कृति के क्षेत्र में भी विकास के नये आयाम जुड़े। भारतीय संस्कृति का नया रूप पौराणिक संस्कृति के नाम से प्रकाश में आया। उसके बाद वैदिक परम्परा के पुराणकालीन ऋषि–मुनियोंद्वारा पौराणिक संस्कृति के पल्लवन में जो यशस्वी प्रयत्न हुए, महाकाव्यों की समृद्ध संस्कृति उसी का परिणाम है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

आचार्य वराहमिहिर का समय और उनके कार्य

खगोल भूगोलशास्त्र, विज्ञान, गणित, ज्योतिष के क्षेत्र में अद्‌भुत उपलब्धियों वाले अग्रगण्य आचार्य वराहमिहिर मान्यता अनुसार आचार्य वराहमिहिर का जन्म 123 ई.पू. हुआ तथा देहांतर 82 वर्ष की उम्र में अर्थात ई.पू. 41 में उन्होंने संसार से विदा ली। जबकि पश्चिम के इतिहासकार भारतीय परम्परा के बारे में भ्रम खड़ा करने की अपनी परम्परा अनुसार वराहमिहिर का जन्म 505 ई. बताते रहे हैं। वराहमिहिर ने ही अपने ग्रंथ पंचसिद्धान्तिका में सबसे पहले बताया कि अयनांश का मान 50.32 सेकण्ड के बराबर है। कापित्यक (उज्जैन) में उनके द्वारा विकसित गणितीय विज्ञान का गुरुकुल सात सौ वर्षों तक अद्वितीय रहा। उन्होंने अपने पिता से परम्परागत गणित एवं ज्योतिष सीखकर इन क्षेत्रों में व्यापक शोध कार्य किया। समय मापक घट यन्त्र, इन्द्रप्रस्थ में लौह स्तम्भ के निर्माण और ईरान में वेधशाला की स्थापना उनके प्रमुख कार्यों की झलक देते हैं। वे सूर्य के उपासक थे। उन्होंने लघुजातक, बृहत्संहिता, बृहत्जातक, योगयात्रा और पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थों की रचना की। बृहत्संहिता में नक्षत्र विद्या, वनस्पतिशास्त्र, प्रकृति, इतिहास, भौतिक व भूगोल जैसे विषयों का उल्लेख है। वराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरलों में शामिल थे। हिन्दू ज्योतिष साहित्य के सबसे बड़े पुरोधा वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में से पाँच सिद्धांतों की जानकारी दी है जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य ज्योतिष विज्ञान की जानकारी सम्मिलित है। लघुजातक इसी ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप है। वराहमिहिर संख्या–सिद्धान्त नामक एक गणित ग्रन्थ के भी रचयिता है जिसके बारे में बहुत कम ज्ञात है। इस ग्रन्थ के बारे में पुराविदों का कथन है कि इसमें उन्नत अंकगणित, त्रिकोणमिति के साथ–साथ कुछ अपेक्षाकृत सरल संकल्पनाओं का भी समावेश है। पृथ्वी की अयन–चलन नाम की खास गति के कारण ऋतुओं का आगमन होता है, इसका भी वराहमिहिर ने ही ज्ञान कराया। गणित द्वारा की गयी नयी गणनाओं के आधार पर उन्होंने पंचांग का निर्माण किया। वराहमिहिर ने ज्या सारणी को और अधिक परिशुद्ध बनाया। उन्होंने शून्य एवं ऋणात्मक संख्याओं के बीजगणितीय गुणों को परिभाषित किया। इस महान् भारतीय वैज्ञानिक पर केदारनाथ प्रभाकर के सम्पादन में वराहमिहिर स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन वर्ष 1974 (2031 विक्रमी) में हुआ था। इस स्मृति ग्रंथ की मूल्यवान स्थापनाओं से सुपरिचित कराने के लिए महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ ने इसको पुनर्प्रकाशित किया है। आचार्य वराहमिहिर का नाम विश्व के महान् ज्योतिर्विज्ञानवेत्तामों में मूर्धन्य है। ज्योतिर्विज्ञान के तीन मुख्य पङ्गों (सिद्धांत, संहिता एवं होरा) पर अधिकार पूर्ण ग्रन्थों की रचना करने वाला आपके

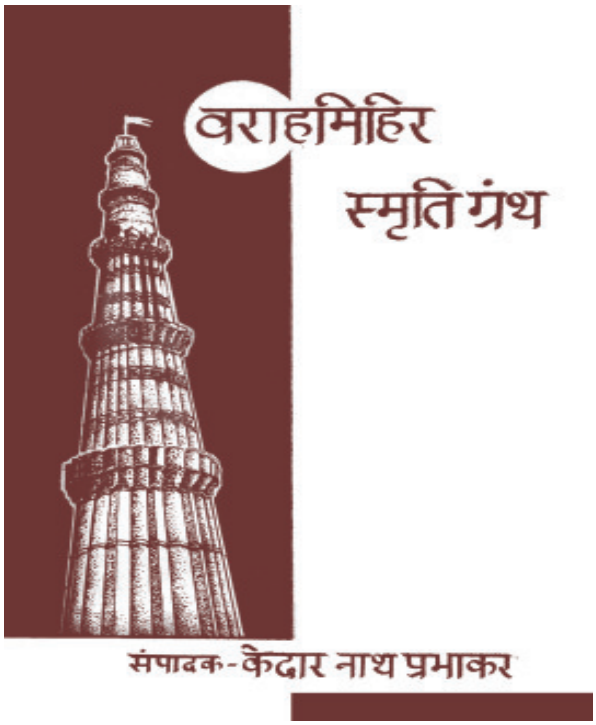

समान कोई दूसरा विद्वान विश्व में आज तक पैदा नहीं हुआ है। भारतीय संस्कृति एवं विज्ञान के विश्वकोष के नाम से सुप्रसिद्ध तथा संस्कृत का महाकाव्य कहलाने वाली आपको अमरकृति 'बृहत्संहिता' संसार के श्रेष्ठतम ग्रन्थ रत्नों में से एक है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में भारत भ्रमण करते वाले विदेशी विद्वान अलबेरुनी ने 'बृहत्संहिता' को अरबी में अनुवादित कर सुदूर अन्य देशों में पहुचाया था। प्राकृतिक विज्ञान पर इस ग्रन्थ को विश्व की सर्वोत्तम रचना माना जाता है। फलित ज्योतिष पर आचार्य वराहमिहिर की महान् कृति 'होराशास्त्र' (बृहज्जातक) सूक्ष्म होने पर भी इतनी गहन है कि अब तक इस ग्रन्य पर चौदह विद्वानों ने पृथक–पृथक व्याख्याएँ लिखकर इसके गम्भीर भाव को प्रकट करने का सद्‌प्रयास किया है। अकेले भट्टोत्पल नामक प्रकाण्ड विद्वान को 'होराशास्त्र' में वर्णित लगभग चार सौ श्लोकों का भाव समझाने के लिए 8500 श्लोकों की रचना करनी पड़ी है। अर्थात 'होराशास्त्र' के एक–एक श्लोक की व्याख्या लगभग इक्कीस श्लोकों में सम्भव हो सकी है। इसी प्रकार से सिद्धांत विषयक आपकी महान् कृति 'पञ्चसिद्धान्तिका' भी विश्व के ज्योतिविज्ञान सम्बन्धी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। इसी प्रत्य रत्न में प्राचार्य वराहमिहिर ने विश्व में सर्वप्रथम पृथ्वी सम्बन्धी इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर भारत के गौरव को बढ़ाया।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com